SJIF 2016 = 4.44
ISSN: 2348-3083
An International Peer Reviewed & Referred
SCHOLARLY RESEARCH JOURNAL FOR
HUMANITY SCIENCE & ENGLISH LANGUAGE

हिंदी सिनेमा और स्त्री विमर्श

संध्या गर्ग, Ph. D.

एसोसिएट प्रोफेसर, जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज, दिल्ली यूनिवर्सिटी

Abstract

सिनेमा जन संचार माध्यमों में सबसे अधिक सशक्त माध्यम है। समाज से विषय लेकर समाज को प्रभावित करना, साहित्य के साथ–साथ सिनेमा का भी महत् उद्देश्य रहा है। जब हम समाज की बात करते हैं तो किसी भी सामाजिक संरचना में स्त्री के स्थान और भूमिका की अवहेलना नहीं की जा सकती है। यद्यपि समाज की आधी आबादी के रूप में वह सभी महत्वपूर्ण बदलाव का एक अनिवार्य अंग होती है तथापि उसे लेकर दोयम दर्जे की भावना अधिकतर दिखाई देती है। हिंदी सिनेमा ने स्त्री की परंपरागत छवि से लेकर अपना अस्तित्व तलाश करती स्त्री तक एक लम्बी यात्रा को अपने विशाल कैनवास पर फिल्माया है जो कि हिंदी सिनेमा को एक नया आयाम भी प्रदान करता है। प्रस्तुत आलेख इसी विकास यात्रा का एक संक्षिप्त दस्तावेज है।

***Scholarly Research Journal's* is licensed Based on a work at www.srjis.com**

बींसवी शताब्दी में अपने समूचे परिवेश को समेटे हुए हिंदी सिनेमा एक सशक्त माध्यम बन कर उभरा है। साहित्य के समान ही समाज, कला, युवा पीढ़ी, राजनीति सभी को प्रभावित करने वाले इस माध्यम ने सदा समाज के सच और समकालीन मुद्दों को समाज के समकक्ष ला कर खड़ा किया है। उसे किसी साहित्यिक विधा में सम्मिलित नहीं किया गया – "भले ही किन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण

अथवा साहित्यशास्त्र की बँधी हुई परिवाटी के कारण चित्र पट को किसी साहित्यिक विधा अथवा कला का स्तर प्रदान न किया गया हो, किन्तु आज इस तथ्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि सामाजिक क्षेत्र में चित्र पट ने अपना एक निजी सांस्कृतिक परिवेश धारण कर लिया है। (डॉ॰ महेन्द्र मिश्र)

आधी शताब्दी बीत जाने पर समाज के एक महत्वपूर्ण हिस्से अर्थात् स्त्री के लिए यह अनुभव किया जाने लगा कि उसे उसका दाय सदियों से प्राप्त नहीं हुआ हैं पश्चिम में स्त्रीवाद की यह लहर 1960 में दिखाई देती है और भारत में सातवें दशक के मध्य इसने जोर पकड़ा। 'फेमिनज्म' की अवधारणा स्त्री अस्मिता और अस्तित्व के प्रश्नों को इतना सशक्त रूप में उठाती है कि हिंदी सिनेमा भी इससे अछूता नहीं रहा। प्रारंभ से यदि देखें तो स्त्री चरित्र हिंदी सिनेमा का अनिवार्य अंश रहे हैं। एक दीर्घ अवधि तक परंपरागत छवि लिए यह चरित्र केवल घर–परिवार की देखभाल करने वाले, पति को परमेश्वर का स्थान देने वाले और अधिक से अधिक नायक के साथ पेड़ों के आस पास गीत नृत्य कर दर्शकों को रिझाने वाले ही रहे। समय के साथ–साथ सिनेमा का विकास हुआ और सशक्त नारी चरित्र दर्शकों के समक्ष आए। ऐसे फिल्मकार और नायिकाएँ दिखाई दी जिन्होंने नारी समस्याओं पर आधारित चलचित्र को अत्यंत संवेदना के साथ मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया।

हिंदी फिल्मकारों ने श्याम बेनेगल, मुजफ्फरअली, अपर्णा सेन, केतन मेहता, गोविंद निहलाणी, शशि कपूर, सागर सरहदी ऐसे निर्देशक हैं जिन्होंने स्त्री विषयक सिनेमा पर महत्वपूर्ण कार्य किया। यही नहीं स्मिता पाटिल, शबाना आज़मी, नीना गुप्ता, तब्बू, विद्या बालन आदि प्रमुख अभिनेत्रियाँ भी हैं, जो स्त्री की परंपरागत छवि को तोड़कर उसकी आधुनिक छवि को सिनेमा के पट पर लाने में सशक्त भूमिका निभाती हैं, परन्तु इन सबसे भी पूर्व हिंदी सिनेमा में स्त्री सशक्तीकरण को लेकर जो पहली फिल्म मन में आती है वह है मदर इंडिया (महबूब द्वारा निर्देशित)

यह संभवतः पहली हिन्दी फिल्म है जिसने एक स्त्री के अस्तित्व का प्रश्न उठाया। नरगिस ने इस फिल्म में राधा का किरदार निभाया जो ज़मींदार के अत्याचारों के आगे सिर नहीं झुकाती और अंत में अपने बेटे बिरजू को गोली मार देती है– उसी जमींदार की बेटी को बचाने के लिए। यहाँ नरगिस एक कमजोर माँ नहीं है, वह न्याय के लिए खड़ी होती है और यह उसे चाहिए चाहे उसके लिए उसे अपनी ममता का ही गला घोंटना पड़े।

कमलेश्वर की रचना पर आधारित 'आंधी' फिल्म एक स्त्री की महत्वाकांक्षाओं की कहानी है। राजनीतिक सफलता कैसे व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करती है, विशेष रूप से स्त्री यदि राजनीति में अपना कैरियर बनाना चाहती है तो पारिवारिक स्तर पर उसे बहुत सारे त्याग करने होते हैं। उसका व्यक्तिगत जीवन जिस उतार–चढ़ाव से गुजरता है, उसमें उसके पास कोई रास्ता नहीं बचता कि वो दोनों स्थितियों से संतुलन बनाकर रख सके। यह स्थिति दुखद है पर सच है कि भारतीय समाज में अधिकतर सफलता को छूने वाली महिलाएँ पारिवारिक स्तर पर उतनी सुखी नहीं रह पाती हैं।

'दामिनी' (1993) एक ऐसी युवती की कहानी है जो अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। इस फिल्म में उसकी लड़ाई अपने ही परिवार से है। उसके घर में काम करने वाली एक औरत के साथ बलात्कार होता है और वह उसके न्याय की लड़ाई लड़ती है। फिल्म का अंत दुखद है जिसमें उसे मानसिक रूप से अस्थिर बता दिया जाता है, निश्तिच रूप से परिवार उसका साथ नहीं देता और न्याय प्रक्रिया भी बिक जाती है। एक बार फिर से प्रश्न है कि यह नारी–विमर्श का दौर और महिला अधिकारों के नारों के बीच यदि कोई स्त्री अपने ही परिवार द्वारा पागल घोषित कर दी जाती है क्योंकि वह सच का साथ देना चाहती है तो क्या केवल स्त्री विमर्श लेखन ही इस परिस्थिति को बदलने में सक्षम होगा?

'अर्थ' एक अन्य फिल्म है जिसे मैं स्त्री शक्ति का एक उदाहरण मानती हूँ। पुरुष सत्तात्मक समाज में पूजा (शबाना आजमी) जब अपने पति को किसी अन्य स्त्री के (स्मिता पाटिल) के साथ संबंध में देखती हैं तो वह अपने पति का घर छोड़कर वुमेन हॉस्टल में चली जाती है। पति के वापिस लौट आने पर वह उसे स्वीकार नहीं करती बल्कि उससे प्रश्न करती है कि यदि वह ऐसा कुछ करके वापिस आती तो क्या वह उसे स्वीकार करता? वह रोती नहीं, न भीख माँगती है और न ही लड़ने के लिए कानून का सहारा लेती है बल्कि स्वयं खड़ी होती है इस पुरुष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिए। वहीं दूसरी ओर वह राजू को एक मित्र की तरह मानती है जो उसकी मदद करता है, पर उससे विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देती है।

'मंथन' की बिन्दु (स्मिता पाटील) स्त्री सशक्तीकरण का प्रतीक हे जो कि ग्रामीण स्त्री है वह सभी अन्य स्त्रियों का नेतृत्व करती है उन्हें जातिगत राजनीति से ऊपर उठकर को–ऑपरेटिव सोसायटी में काम करने के लिए प्रेरित करती है। 'अंकुर' की शबाना आज़मी, अपने गूंगे पति के सम्मान के लिए जमींदार से भी लड़ जाती है, जबकि वह स्वयं उसके शोषण को झेलती है।

'भूमिका' की नायिका ऊषा (स्मिता पाटील) फिल्मों की नायिका है। अमोल पालेकर से विवाह के बाद वह एक घरेलू स्त्री बनना चाहती है पर उसका पति उसका मैनेजर बनकर उसके लिए काम लाता है और फिर स्वयं ही गॉसिप मैगज़ीन पढ़कर उस पर शक करता है। उसे अपने बच्ची और माँ को छोड़कर होटल में रहना पड़ता है बाद में वह सुनील वर्मा (नसीरुद्दीन शाह) और विनायक काले (अमरीश पुरी) के साथ जुड़ती है जो कि उसे रखैल की तरह रखता है। अंत में काले की पहली पत्नी उसे कहती है ''बिस्तर बदल जाते हैं, किचन बदल जाती है, आदमी का चेहरा बदल जाता है पर आदमी नहीं बदलते।'' यह समाज का सच

है जो कि स्त्री के संघर्ष की राह को निरंतर और कठिन बनाता है। 'बाजार' भी इसी सच्चाई की एक कहानी है जिसमें दुल्हन खरीदने बेचने वाली एक वस्तु है।

'मिर्च मसाला' केतन मेहता की एक सशक्त फिल्म है जो बताती है अबला कही जाने वाली स्त्री जब अपनी इज्जत और स्वाभिमान की रक्षा के लिए खड़ी होती है तब वह बड़ी से बड़ी ताकत से लड़ जाती है। सोनबाई (स्मिता पाटिल) सूबेदार के द्वारा किए जा रहे शारीरिक शोषण के लिए तैयार नहीं है। आरंभ में बाकी औरतें डरती है पर बाद में मिलकर विरोध करती हैं। फिल्म का अंत सूबेदार की दर्द भरी चिल्लाहट से होता है। क्योंकि सभी औरतें मिलकर उसकी आँखों में मिर्च की बोरियाँ उलट देती हैं। यहाँ सोनबाई अपने आत्म सम्मान के लिए जो हिम्मत दिखाती है, वह कई शहरों में रहने वाली आधुनिक युवतियों में भी नहीं दिखता।

वहीं 'फैशन' ग्लैमर और पैसे की दुनिया की चाहत में अपना सब कुछ गँवा देने वाली मॉडल की कहानी है। यह दुनिया मायावी है। इसके आकर्षण में आने वाली युवतियाँ एक समय अपने को आकाश की ऊँचाईयों में पाती हैं और अगले ही पल सैक्स और शोषण के दलदल में। यहाँ चेहरे रोज बदल जाते हैं। यह उन स्त्रियों की कहानी है जिनके स्त्री होने का अर्थ केवल शरीर होना है। दिमाग और भावनाओं की उनसे अपेक्षा नहीं की जाती और निश्चित रूप से शरीर का आकर्षण समाप्त होते ही उनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। प्रियंका चोपड़ा और कंगना राउत ने बाजार की दुनिया में औरत के सच को बहुत सशक्त ढंग से अभिनीत किया। इस शोषण चक्र से बाहर आना कठिन तो है पर असंभव नहीं, फिल्म की नायिका मेघना अपने आत्मबल से इस शोषण चक्र से बाहर आती है।

'चाँदनीबार' और 'द डर्टी पिक्चर' में जिस स्त्री को दिखाया है, वह सेक्स वर्कर की तरह ही काम करती है, पर पहली फिल्म में वह विवशता वश किया गया कार्य है जबकि 'द डर्टी पिक्चर' की नायिका इसे सफलता की सीढ़ी बना लेती

है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था, 'योनि नहीं है केवल नारी' जबकि सत्य यह है कि स्त्री की स्थिति इससे बेहतर नहीं है। 'कहानी' की नायिका अपने मृत पति का बदला लेने के लिए स्वयं एक पूरा 'प्लाट' बनाती है और फिर सात मास की गर्भवती स्त्री का वेश धारण करके, लोगों की संवेदना और सहानुभूति प्राप्त करते हुए अपना लक्ष्य हासिल करती है।

कुछ लीक से हटकर फिल्मों की चर्चा की जाए तो 'रूदाली' का नाम लेना समीचीन होगा। फिल्म की नायिका 'शनीचरी' बचपन से दुर्भाग्य के साथ ही बढ़ी हुई है। एक शराबी पुरुष के साथ विवाह होने के बाद एक मानसिक अस्वस्थ बच्चे की माँ बनती है पर ये परिस्थितियाँ उसे तोड़ती नहीं है, न ही वह रोती है जबकि दूसरी ओर वह 'रूदाली' का व्यवसाय पेट पालने के लिए करती है जहाँ किसी की मृत्यु होने पर उसे रोने के लिए बुलाया जाता है। किसी की मृत्यु पर रो–रोकर ऐसा वातावरण बना देने वाली शनीचरी जीवन के संघर्षों की चोट खाकर अपने लिए रोना भूल चुकी है। एक अन्य फिल्म है 'फायर' जो कि समलैंगिकता के विवादास्पद मुद्दे पर एक महिला फिल्मकार दीपा मेहता द्वारा बनाई गई। पितृसत्तात्मक समाज की दो महिलाएँ जो कि कहीं अपने पतियों द्वारा की जा रही उपेक्षा से त्रस्त है, आपस में एक–दूसरे में शारीरिक व मानसिक सुरक्षा खोजने लगती हैं। निश्चित रूप से सामाजिक दृष्टि से इस फिल्म को बहुत बड़ा खतरा माना गया पर यह एक महिला की बदलती सोच का कैनवास तो चित्रित कर ही गई, जहाँ वह पुरुष पर किसी भी बात के लिए आश्रित नहीं है। 'वाटर' जोकि बनारस की हिन्दु विधवाओं की दयनीय स्थिति को लेकर बनाई गई, दीपा मेहता की एक अन्य फिल्म है। 1930 में विधवाओं को सामान्य जीवन जीने का हक छोड़कर आश्रमों में जाकर रहने का जो सिलसिला आरंभ हुआ, उसने उन्हें पवित्रता की आड़ में जीवन जीने के साधन जुटाने के लिए अनाचार करने पर भी विवश किया। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से रहित जीवन किसी भी व्यक्ति को

नैतिकता और पाप–पुण्य की अवधारणा से हटकर जीवन जीने की लालसा में किसी रास्ते पर चलने के लिए विवश कर देगा। स्त्री के लिए ही यह बंधन क्यों? एक पुरुषविधुर होने पर दूसरे विवाह का अधिकारी और स्त्री के विधवा होने पर उससे जीवन जीने का अधिकार ही छीन लिया जाए, यह किसी धर्म या मानवीय आधार के समाज की सोच नहीं होनी चाहिए पर लगभग हर धर्म में विधवा स्त्री को लेकर यही सोच है कि अब उसका जीवन समाप्त हो गया है।

'जुबैदा' एक ऐसी युवा लड़की की कहानी है जो विवाह नहीं करना चाहती परन्तु समाज के सभ्रांत वर्ग के पिता की पुत्री विरोध नहीं कर पाती। अंततः तलाक, एक रियासत के राजपूत राजा से विवाह, उसकी पहली पत्नी से सौतिया डाह और अंत में एक प्राइवेट जेट विमान की उड़ान में दोनों की मृत्यु हो जाती है। वस्तुतः एक स्थिति से दूसरी स्थिति, एक पुरूष से दूसरे पुरूष तक की यह यात्रा भी स्त्री को कहीं लेकर नहीं जाती। उसके लिए निर्धारित भूमिका में कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं होता और जहाँ वह इस परिवर्तन के लिए लड़ना प्रारंभ करती हे, वहाँ केवल अंत है अन्य कोई विकल्प नहीं।

स्त्री के अस्तित्व के इस संघर्ष को हिन्दी सिनेमा ने हल्के फुल्के कॉमेडी अंदाज में भी प्रस्तुत किया है लेकिन इससे इस मुद्दे की गंभीरता और संवेदना पर कोई अंतर नहीं आता है। 'इंगलिश–विंगलिश' की नायिका अपने पति और बच्चों के मज़ाक का विषय बनती रहती है। घर के और पति के कार्यों में ही जीवन की उपलब्धि मनाने वाली स्त्री जब जानती है कि उसे अपने लिए कुछ करना है तो वह आयू को भी बंधन नहीं मानती। वह इंगलिश सीखती है और किसी अवसर पर धारा प्रवाह इंगलिश बोलकर सबको चकित कर देती है। एक छोटी–सी घटना और बात है लेकिन स्त्री अस्तित्व विमर्श के मुद्दे से जुड़ी हुई है। एक अन्य फिल्म है 'क्वीन' कंगना राऊत द्वारा निभाया गया चरित्र 'रानी' एक युवती है जिसमें आत्मविश्वास की कमी है। वह अपने मंगेतर के कहे अनुसार ही सब काम करती

हैं। 'विजय' उस पर पूरा नियंत्रण रखना चाहता है, पर फिर भी शादी के एक दिन पहले उसे लगता है कि विदेश में रहने के कारण उसका जीवन स्तर बदल गया है और रानी उसे 'मैच' नहीं करती, वह विवाह से इन्कार करता है। रानी पहले से बुक हनीमून पर अकेले जाने का निर्णय लेती है और पेरिस का यह ट्रिप उसका जीवन बदल देता है। आत्मविश्वास से भरी रानी वापिस लौटने पर विजय को अस्वीकार कर देती है और उसे धन्यवाद देती है। यह धन्यवाद अपने से अपनी पहचान कराने के लिए है।

इनके अतिरिक्त लज्जा, जुबैदा, डोर, पहेली, बैंडित क्वीन, नो वन किल्ड जेसिका, मर्दानी सभी फिल्में समाज की स्त्री के प्रति सोच, स्त्री के अस्तित्व के संघर्ष, दमन के खिलाफ उसके आक्रोश और विरोध को दर्शाने वाली फिल्में है।

'अस्तित्व' की तब्बू जो कि गृहस्थी में खुश है, अपने संगीत अध्यापक के साथ कुछ क्षणों में एक हो जाती है और बहुत लम्बे समय के बाद पति को स्वयं बताती है कि उसका पुत्र संगीत अध्यापक का है। वह घर छोड़ देती है पर अपराधी की तरह नहीं क्योंकि उसकी परिवार के प्रति निष्ठा को उसकी शारीरिक इच्छापूर्ति के कुछ कमजोर क्षणों के चलते दाँव पर नहीं लगाया जा सकता। वह अपने निर्णय के लिए स्वयं जिम्मेदारी अनुभव करती है और पति तथा पुत्र को छोड़ने का निर्णय लेती है वहीं 'देव डी' की माही यौन इच्छाओं की स्वतंत्रता को लेकर एक बिल्कुल अलग ही सोच रखती है।

इस प्रकार यदि हम देखें तो हिंदी सिनेमा के इतिहास में स्त्री विषयक फिल्मों की एक लम्बी सूची है। व्यवसायिकता के दबाव के बाद भी फिल्मकारों ने इस वर्ग और इसकी समस्याओं, संभावनाओं चुनौतियों को अपना विषय बनाया है। सुखद तथ्य यह भी है कि न केवल महिला फिल्मकार बल्कि अधिक संख्या में पुरूष महिलाकारों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है।

निष्कर्ष – स्त्री विमर्श पर पिछले कुछ वर्षों में बहुत लिखा गया और बहुत सी विचार गोष्ठियाँ हुई। वास्तव में स्त्री विमर्श का उद्देश्य स्त्री की मुक्ति नहीं है, पुरूष को भी उन कामनाओं और वर्जनाओं से मुक्त करना है जो स्त्री पर पुरूष वर्चस्व को सही ठहराती हैं।

ऐसे समय और वातावरण के परिप्रेक्ष्य में सिनेमा ने भी लंबे समय तक स्त्री की परंपरागत छवि को ही उकेरा है, जहाँ स्त्री सौन्दर्य के प्रतिमानों से लदी केवल नायक की छाया भर है, उसका कार्य दर्शकों को अपने सौन्दर्य से अभिभूत कर सिनेमा हॉल तक लाना ही रहा है। या फिर कुलटा, वेश्या और गोल गोल आँखें घुमाती घर में ही राजनीति करने वाली खलनायिका के रूप से सिनेमा बाहर नहीं निकल सका है। ऐसे में कुछ फिल्में जिनमें स्त्री के कुछ अन्य पक्षों का चित्रण हुआ वे कम हैं पर परिवर्तन का संकेत तो देती हैं।

अर्थ, मंथन, भूमिका, बाजार, मिर्च मसाला, मोहरा, फैशन, मैरी कॉम, आँधी, सुजाता, पाकीजा, रजिया सुल्तान, चित्रलेखा, रजनीगंधा ऐसी ही फिल्में है जिनमें स्त्री की परंपरागत छवि को तोड़ने की कोशिश की गई है। स्त्री यहाँ स्वतंत्र चिंतन, स्वनिर्णय, आत्म–निर्भर, आर्थिक स्वतंत्रता के साथ सामाजिक भय से मुक्त होने की ओर अग्रसर होती दिखाई देती हैं। ये नायिकाएँ समाज में स्त्री की बदलती भूमिका को रेखांकित करती हैं। पुरूषों की सत्ता वाले समाज में अपनी स्वतंत्र सत्ता की तलाश में संघर्षरत, ये नायिकाएँ स्त्री विमर्श के आंदोलनों को सिनेमा की ओर से एक स्वर देती हैं।

संदर्भ ग्रंथसूची

1.	हिंदी सिनेमा का समाज शास्त्र	ज्वरीमल्लपारेख	ग्रंथ शिल्पी
2.	समय और सिनेमा	विनोद भारद्वाज	प्रवीण प्रकाशन
3.	भारतीय चलचित्र	महेंद्र मितल	अलंकार प्रकाशन
4.	सिनेमा देखने के तरीके	विष्णु खरे	प्रवीण प्रकाशन
5.	Films and faminism	जसवीर जैन व सुधा राय	रावत पब्लिकेशन
6.	हंस सिनेमा विशेषांक	फरवरी 2013	